विश्लेषण

पूंजीवादी विकास और शैक्षिक संरचना

◆ सैमुअल बोल्ज

सैमुअल बोल्ज तीसरी दुनिया में स्कूली शिक्षा पर एक मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य लागू करते हैं। वे तर्क देते हैं कि स्कूली व्यवस्था इस प्रकार ढाली गई है कि उसमें अमीरों के बच्चे दूसरों से ज्यादा सफल हों। इससे गरीबों को यह मनवाने में मदद मिलती है कि वे इसी लायक हैं कि कम वेतन वाली और गैर-मानवीय नौकरियां करें। इससे किसानों को शहरों के बाहर, अपनी ठहरी हुई, विपन्न खेती में फंसाए रखने में भी मदद मिलती है।

1960 के दशक के मध्य तक भी गरीब मुल्कों के योजनाकार शिक्षा संबंधी अवसरों के लगातार फैलाव तथा सामाजिक-आर्थिक विकास में स्कूली शिक्षा के योगदान के बारे में आशावादी दिखाई देते थे। कई नए राष्ट्रों की सरकारों को उम्मीद थी कि वे विकसित पूंजीवादी देशों के शिक्षा के इतिहास को हू-ब-हू दोहरा पाएंगी। इसी के चलते उन्होंने सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा को मध्यकालीन या अल्पकालीन उद्देश्य के तौर पर अपनाया। सोचा जा रहा था कि स्कूली शिक्षा के फैलाव से विकास की प्रक्रिया में 'मानव-संसाधनों के अवरोध' तोड़े जा सकेंगे तथा मोर्चाबंद, साधन-सम्पन्न विशेषाधिकार के किले पर भी प्रहार हो पाएगा।

लेकिन 1965 के आते-आते नामांकनों की विकास-दरें गिरने लगी थीं। गैर-साम्यवादी गरीब देशों के प्राथमिक स्कूलों में हो रहे नामांकन जनसंख्या-विकास दर की रफ्तार की बराबरी नहीं कर पाए तथा निरक्षरों की संख्या में बढ़ोतरी हुई।[1] पिछले एक दशक में सबूत इकट्ठा होने शुरू हुए हैं कि स्कूली शिक्षा का ढांचा न केवल आर्थिक वृद्धि को रोकता है, बल्कि आर्थिक असमानता में भी योगदान देता है[2]। संसार भर के शिक्षा मंत्रालय सख्त वित्तीय दबावों में हैं, वे शिक्षा-प्राप्त मजदूरों में बढ़ती बेरोजगारी का सामना कर रहे हैं तथा जन-मानस की ओर से शिक्षा के अवसरों के फैलाव की भी लगातार मांग हो रही है। इस सबके चलते ये मंत्रालय अनौपचारिक बुनियादी शिक्षा की ओर बढ़ रहे हैं। यानी ग्राम आधारित, व्यावसायिकता की ओर प्रवृत्त, चलताऊ और (इस सबसे भी बढ़कर) सस्ती वैकल्पिक सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा की ओर[3] धराशाई आशाएं पुनर्विचार को जन्म देती हैं। छंटनी के दौर का तकाजा है कि अन्तर्राष्ट्रीय शैक्षणिक प्रतिष्ठानों के मुरझा चुके आशावाद के वैचारिक आधारों का पुनरीक्षण किया जाए। शिक्षा नीति आर्थिक वृद्धि को बढ़ावा देने का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण हो सकती है- इस बात पर गरीब पूंजीवादी देशों में स्कूली शिक्षा का आकलन करने वाले अर्थशास्त्रियों और अन्य समाजशास्त्रियों तथा शिक्षकों में सर्वसम्मति है। हाल में यह विश्वास

भी जताया गया है कि स्कूली शिक्षा आर्थिक प्रतिफल का अधिक न्यायपूर्ण बंटवारा करने में भी महत्त्वपूर्ण हो सकती है। यानी माना जाता है कि शिक्षा नीति समता और वृद्धि का असरदार उत्प्रेरक होने की सामर्थ्य रखती है। यह मान्यता दो बुनियादी प्रमेयों या प्रस्तावों पर आधारित है : पहला, कि आर्थिक विकास की दर तथा आर्थिक प्रतिफल के बंटवारे पर शिक्षा नीति का मजबूत प्रभाव पड़ता है, वह प्रत्यक्ष हो चाहे अप्रत्यक्ष, और दूसरा यह कि शिक्षा नीति समाज के मुख्य आर्थिक संबंधों से इतना तो स्वतंत्र है कि इसे एक 'बाहर से उत्पन्न नीति उपकरण' माना जा सके।

शिक्षा नीति के असरदार होने की और साथ ही उस के बाहरी तौर पर उत्पन्न होने की धारणा दो वैचारिक सिद्धांतों के संयुक्त प्रभुत्व को प्रतिबिंबित करती है- एक, मानव पूंजी को महत्त्व देने वाले मत के प्रभुत्व को व दूसरा, राज्य-व्यवस्था के उदारवादी सिद्धांत के प्रभुत्व को। इन दोनों दृष्टिकोणों को मिली सफलता का निकट संबंध है और इससे एक महत्त्वपूर्ण यह नतीजा निकलता है- कि आर्थिक जीवन में सत्ता का मुद्दा गेम थेरी (game theory) के अमूर्त और रहस्यपूर्ण संसार में निष्कासित कर दिया गया है (विडम्बना तो यह है कि वहां भी उसका स्वागत नहीं हुआ है)- बल्कि वह तो उससे भी अधिक दूर-दराज के उस क्षेत्र में निष्कासित है, जिसे राजनीति विज्ञानियों, समाजशास्त्रियों तथा गैलब्रेथ (Galbraith) द्वारा आबाद किया गया है।[4] यदि 'प्रत्येक आर्थिक अभिनेता कीमत लेने वाला है', या और भी सटीक ढंग से कहें तो, जैसा सैमुअल्सन का मानना है कि यदि इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि मजदूर को पूंजीपति द्वारा भाड़े पर लिया जाता है या फिर इसके उलट होता है, तो हम प्रतिस्पर्धात्मक मॉडल में सत्ता की बात को बड़ी आसानी से दरकिनार कर सकते हैं, उसे भूल ही सकते हैं[5]। आर्थिक अभिनेताओं के आपसी संबंधों को परिभाषित करने वाले संस्थागत ढांचे आर्थिक विश्लेषण या उदारवादी नीति का विषय नहीं हैं।

इस दृष्टिकोण की सूचक यह मान्यता है कि समतावादी सामाजिक और आर्थिक नीति मुख्यतः उत्पादक स्रोतों के पुनः वितरण के माध्यम से कार्य कर सकती है; और यह नीति लोकतांत्रिक ढंग से चुने गए या और नहीं तो जागरूक एवं प्रबुद्ध, सरकारी 'निर्णयकर्ताओं' द्वारा 'ऊपर से' लागू की जाती है[6]। स्कूली व्यवस्था की 'उपज' को 'दक्षताओं' या अन्य योग्यताओं के प्रतिनिधि के रूप में लिया जाता है। कहा जाता है कि समतामूलक शैक्षिक सुधार इन दक्षताओं को पुनः वितरित करता है- उसी प्रकार जैसे कृषि सुधार के तहत जमीन के स्वामित्व को पुनः वितरित किया जाता है।[7]

आर्थिक विकास की प्रक्रिया में तथा उससे प्राप्त लाभ के वितरण में स्कूली शिक्षा का महत्त्व निर्विवाद प्रतीत होता है, हालांकि ऐसा उन कारणों से नहीं है जो मानव पूंजी के मत में विश्वास रखने वालों द्वारा दिए जाते हैं। फिर भी, पूंजीवादी समाजों के इतिहास के बहुत ही सरसरी अध्ययन से भी संकेत मिलता है कि राज्य को स्वतंत्र तथा समतामूलक मानने वाला उदारवादी दृष्टिकोण आर्थिक विकास, शिक्षा तथा असमानता के संबंध की जांच-पड़ताल के लिए एक पर्याप्त आधार प्रदान नहीं करेगा[8] और न ही यह दृष्टिकोण पूंजीवादी विकास के सन्दर्भ में शैक्षिक विकास की गतिशीलता पर कोई खास रौशनी डालेगा[9]।

मैं पूंजीवादी समाज में राज्य और शिक्षा का एक वैकल्पिक नजरिया प्रस्तुत कर रहा हूं[10]। इस व्याख्या के अन्तर्गत राज्य पूंजीशाही वर्ग और अन्य प्रभावशाली समूहों की स्थिति को परिभाषित करने वाले सामाजिक संबंधों की पुनर्रचना में सेवारत रहता है। आर्थिक ढांचा और उसके वर्ग-संबंध राज्य की नीतियों और उसके ढांचे पर हावी रहते हैं तथा उन्हें बड़ी कड़ाई से सीमित करके रखते हैं। साथ ही, आर्थिक ढांचा स्वयं भी राज्य द्वारा, सामान्यतः, इस प्रकार प्रभावित होता है कि राजनैतिक रूप से शक्तिशाली वर्गों की ताकत और आय बढ़ती है। शिक्षा व्यवस्था, जो राज्य के मुख्य औजारों में से एक है, राजनैतिक जीवन और विचारधारा को महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करती है। साथ ही वह उत्पादन-प्रक्रिया के संसाधन के तौर पर काम करने वाली श्रम-शक्ति को भी प्रभावित करती है। स्कूल का 'उत्पाद' सामाजिक संबंधों का ही प्रतिरूप या रूपांतरण होता है, व्यक्तियों में साकार हुई 'दक्षताओं' का वितरण इस प्रक्रिया के केवल एक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है (वह भी सब से महत्त्वपूर्ण पक्ष नहीं)। उत्पादन के सामाजिक संबंधों (यानी श्रम-प्रक्रिया में अधिकार और संपत्ति के संरूप या विन्यास) पर पड़ने वाला शैक्षिक ढांचों का गम्भीर प्रभाव स्कूली शिक्षा तथा अर्थव्यवस्था के परस्पर, निर्णायक संबंध का प्रतिनिधित्व करता है। साथ ही वह पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्थाओं में समतावादी सुधारों की ढांचागत सीमाओं की ओर भी इशारा करता है।

शैक्षिक असमानता तथा आय की असमानता, दोनों ही पूंजीवादी समाजों की वर्ग-संरचना को प्रतिबिंबित करते हैं। मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि प्रगति या समानता लाने में शैक्षिक नीतियों के योगदान का दायरा समाज में हावी वर्ग-संबंधों द्वारा बड़ी सख्ती से सीमित कर दिया जाता है। वर्चस्वशाली वर्ग द्वारा स्कूली शिक्षा पर थोपी जाने वाली भूमिका से भी ये सीमाएं तय होती हैं- यानी, उत्पादन की प्रभुत्वकारी पद्धति की वर्ग-संरचना को पुनःउत्पन्न करने की भूमिका।

दूसरे शब्दों में, पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्थाओं में शिक्षा की स्थिति और स्थान को समझना हो तो वर्ग-संबंधों की गतिशीलता का विश्लेषण करना होगा। काम की सामाजिक व्यवस्था तथा स्कूल के

बीच के संबंध पर रोशनी डालनी होगी और दोनों को सम्पूर्ण पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की गतिशीलता में स्थित करना होगा। इसके लिए मैं मार्क्सवादी सिद्धांत- वर्ग को प्रयोग में लाता हूं न कि हैसियत, आय या उत्पादित वस्तु की किस्म पर आधारित अवधारणात्मक सामाजिक समुच्चयों को। दो बिल्कुल भिन्न प्रकार के वर्ग-संबंध प्रस्तुत किए गए हैं : किसी एक श्रम प्रक्रिया के ही भीतर के संबंध (उदाहरणार्थ, पूंजीपति-मजदूर के संबंध) तथा भिन्न श्रम-प्रक्रियाओं में फैले हुए या विस्तारित संबंध (उदाहरण के लिए, किसान-मजदूर)। पहली स्थिति में नियंत्रण तथा शोषण के सीधे संबंध स्वयं श्रम-प्रक्रिया के अन्तर्गत ही परिभाषित हो जाते हैं। दूसरी स्थिति में वे वर्ग-संबंध हैं जो मुख्यतः मंडियों या राज्य के माध्यम से संबंध में आई विशेष श्रम-प्रक्रियाओं से संबद्ध समूहों को जोड़ते हैं। ये वर्ग-संबंध उत्पादन के ढांचे द्वारा अनिवार्यतः कम सुपरिभाषित होते हैं। मैं वर्गों में सहमिलन की समस्या पर विचार करूंगा, ताकि उत्पादन की भिन्न पद्धतियों की बहुलता वाली सामाजिक व्यवस्था में वर्ग-संबंधों के खुलेपन को पकड़ में लिया जा सके।

पूंजीवादी समाज का अत्यधिक अमूर्त, निराकार, दो वर्गों वाला मॉडल अब नामंजूर कर दिया गया है तथा वर्गों के गठजोड़ की अवधारणा ने अनिश्चितता के एहसास को बढ़ाया है। ये दोनों बातें सामाजिक परिवर्तन के राजनैतिक और विचारधारात्मक पक्षों के बढ़े हुए महत्त्व की ओर इशारा करती हैं। इतनी ही महत्त्वपूर्ण एक और बात है- बहुवर्गीय विश्लेषण हमें आमंत्रित करता है कि राज्य को 'सम्पूर्ण बुर्जुआ वर्ग के सामान्य-साधारण मसलों का प्रबंधन करने वाली कमेटी' के रूप में देखे जाने के नजरिए पर पुनः विचार किया जाए[11]। यहां पर प्रस्तुत अवधारणा के अन्तर्गत राज्य को एक ऐसी रंगभूमि के रूप में भी देखा जा सकता है जहां वर्गों में गठजोड़ बनते हैं; किसी एक वर्ग द्वारा राज्य को केवल अपने राजनैतिक औजार के तौर पर इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। वर्ग-संबंधों की बहुलता, राज्य की नीतियों की ढांचागत सीमाएं तथा इस के साथ-साथ राज्य में वर्ग-सत्ता की समस्याग्रस्त प्रकृति- ये सब हमें याद दिलाते हैं कि ऐसा मान लेना सही नहीं है कि राज्य की कोई नीति किसी भी एक वर्ग के हितों के सचेत और सफल क्रियान्वयन को प्रतिबिंबित करती है।

मैं एक बार फिर यह निश्चित तौर पर कहना चाहूंगा कि बाद में आने वाले प्रतिगामी समीकरणों तथा प्रतिफल की दरों के अनुमानों के बावजूद यह निबंध मूलतः सैद्धांतिक है। मेरा आशय बुनियादी, गतिशील ढांचागत संबंधों को चिह्नित करने का है और यदि मैं इस में सफल होता हूं तो ये विशेष सामाजिक संरचनाओं के ठोस विश्लेषण के लिए एक प्रारम्भ बिन्दु का काम करेंगे। यदि हम कोई भी ठोस प्रयोग करना चाहते हों तो इन बातों पर खास ध्यान देना होगा- वर्ग सीमाओं तथा उत्पादन की पद्धतियों की परिभाषा, समस्या के अंतर्राष्ट्रीय पक्ष और यह तथ्य कि राज्य को पूर्ण रूप से केवल वर्ग संबंधों की साधारण अभिव्यक्ति के रूप में या जटिल अभिव्यक्ति के रूप में भी नहीं देखा जा सकता।

1. वितरण संबंधी द्वंद्व की गतिशीलता

पूंजीवादी विकास-प्रक्रिया की उल्लेखनीय विशेषताओं को एक सरल से विश्लेषण द्वारा समझा जा सकता है। इस विश्लेषण के अन्तर्गत दो बातों पर ध्यान केन्द्रित रहेगा- उत्पादन की पूंजीवादी तथा परंपरागत पद्धतियों के आंतरिक सांगठनिक स्वरूप पर और उनकी पारस्परिक क्रियाओं पर। उत्पादन की विभिन्न पद्धतियों की आर्थिक वास्तविकता तो उत्पादित वस्तुओं, इस्तेमाल में लाई गई तकनीकी तथा अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षों के सन्दर्भ में अलग-अलग हो सकती है; लेकिन, आर्थिक गतिविधि के किसी भी रूप की एक अलग पहचान तो उत्पादन के सामाजिक संबंधों की वजह से ही बनती है। इस प्रकार, उत्पादन की पूंजीवादी पद्धति में प्रौद्योगिकी के स्तर पर गतिशीलता देखने को मिलती है तथा फैलाव और बढ़ोतरी की एक तेज दर भी। लेकिन उत्पादन की अलग पद्धति के तौर पर उस की भिन्नता तो उसके सामाजिक गठन और व्यवस्था की वजह से प्रदर्शित होती है- उत्पादकों की एक बड़ी बहुसंख्या के पास उस चीज का स्वामित्व नहीं होता, जिसकी जरूरत उन्हें अपनी आजीविका को सुरक्षित रखने के लिए पड़ती है। इसलिए वे अपना उत्पाद नहीं बेचते वे आय के लिए अपनी मजदूरी के समय को बेचते हैं। दिहाड़ी-मजदूर को अपने काम के उत्पाद पर कोई अधिकार नहीं मिलता और न ही उनका कोई सीधा नियंत्रण उत्पादन किए जाने वाली वस्तुओं के चुनाव पर, इस्तेमाल में ली जाने वाली तकनीकों पर या काम की व्यवस्था पर रहता है। उत्पादन की पूंजीवादी पद्धति की प्रतिनिधिक उत्पादक इकाई एक फैक्ट्री, बड़ा व्यापारिक दफ्तर या आधुनिक बागान है[12]।

इसकी तुलना में उत्पादन की परंपरागत पद्धति में दिहाड़ी-मजदूर की महत्त्वहीनता देखने को मिलती है ('उत्पादन की परंपरागत पद्धति' यहां पर गैर-पूंजीवादी पद्धतियों के विभिन्न सम्भावित रूपों के लिए इस्तेमाल की गई शब्दावली है, जिसकी अधिक सटीक व्याख्या को यहां बीच में नहीं लाया जा रहा क्योंकि उसके बिना भी इस निबंध के सन्दर्भ में हमारा उद्देश्य हल हो जाता है[13])। उत्पादन की परंपरागत पद्धति के तहत विश्व-मण्डी के लिए नकदी फसलों का उत्पादन किया जा सकता है। इसी के तहत निर्वाह फसलें भी उगाई जा सकती हैं- या फिर दस्तकारी के काम भी हो सकते हैं। उत्पादन के सामाजिक संबंध तो भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, लेकिन इस पद्धति की प्रतिनिधिक उत्पादन इकाइयां पारिवारिक खेत, सामुदायिक उत्पादन

या दस्तकारी की दुकान हैं। इस पद्धति में उत्पादक स्वयं उत्पादन के साधनों के मालिक होते हैं या फिर उन पर उनका महत्त्वपूर्ण नियंत्रण तो कम से कम होता ही है। इसके साथ ही कार्य के घंटों तथा तौर-तरीकों के सन्दर्भ में भी उन्हें स्वतंत्रता रहती है और प्रायः अपनी मेहनत के उत्पादन के काफी बड़े हिस्से पर उनका अधिकार रहता है। परंपरागत पद्धति में सम्पत्ति का स्वामित्व शोषक वर्ग (अक्सर भूस्वामी, जिनकी उत्पादन में सीधी भूमिका या तो बिल्कुल भी नहीं होती या फिर बहुत कम होती है) के लिए सहायक रह सकता है : बावजूद इसके कि उत्पादन में उनकी भूमिका बहुत ही कम या बिलकुल भी नहीं होती, वे बंटाई की खेती या किराए पर काश्तकारी वाली व्यवस्था के अन्तर्गत होने वाली थोड़ी-सी बचत को भी हर लेते हैं। जहां कहीं भी भूस्वामियों का वर्ग है, वहां इस समूह या उसके एक हिस्से को परंपरागत संभ्रांत वर्ग कहा जा सकता है। अन्य संभ्रांत वर्गों में उसके सहयोगी हो सकते हैं- फौज, कबीलाई मुखिया या फिर संस्थापित धर्म जैसे वर्गों में। सरलता बनाए रखने के उद्देश्य से मैं परंपरागत पद्धति में सीधे उत्पादकों को किसान तथा शोषक वर्ग को भूस्वामी की संज्ञा दूंगा। आगे आने वाले विश्लेषण को इस रूप में संशोधित किया जा सकता है कि उसमें भूमि के मालिक स्वतंत्र-किसानों को या गैर-कृषीय वस्तुओं के स्वतंत्र छोटे-उत्पादकों को भी शामिल किया जा सके।

दो कारणों से दोनों पद्धतियों में, कम से कम पूंजीवादी विकास के शुरुआती चरणों में तो अवश्य, जनसंख्या बढ़ोतरी की दरें काफी अधिक होने की सम्भावना है- एक तो आधुनिक स्वास्थ्य तकनीकी के प्रभाव के चलते दूसरा, राज्य के स्तर पर पुनःवितरण तथा परस्पर समर्थन के ऐसे प्रभावी तंत्रों के अभाव के चलते, जो यदि होते तो बड़े परिवारों के लिए प्रोत्साहन कमजोर पड़ता[14]।

उत्पादन की पूंजीवादी पद्धति- यानी संचय की प्रक्रिया- के फैलाव के साथ ही उत्पादन की परंपरागत पद्धति से नए दिहाड़ी-मजदूरों की भर्ती होती है। पूंजीवादी पद्धति में नए मजदूरों का एकीकरण, पूंजीवादी उत्पादन के वर्ग-संबंध और तकनीक के स्तर पर उसकी गतिशीलता- इन सबसे शिक्षा-क्षेत्र की बढ़ोतरी और फैलाव को प्रोत्साहन मिलता है, स्कूली व्यवस्था के ढांचे के क्रमिक विकास को भी बल मिलता है। इससे संगत-संबद्ध संचय की प्रक्रिया और परिणामस्वरूप सम्पूर्ण सामाजिक संरचना का असमतल विकास- पूंजीवादी पद्धति में गतिशीलता का तथा परंपरागत पद्धति में निष्क्रियता का प्रतिकूल बिन्दु- वे मूल ताकतें हैं जिनसे आर्थिक असमानता उत्पन्न होती है तथा समतावादी शैक्षिक सुधार की सीमाएं बन जाती हैं। मेरा कार्य है संचय की प्रक्रिया, शिक्षा तथा आर्थिक असमानता के संबंध की रूपरेखा प्रस्तुत करना।

इस जटिल संबंध की जांच-पड़ताल करने के मकसद से मैं उत्पादन की दोनों पद्धतियों के पारस्परिक प्रभाव की एक सरल व्याख्या विकसित करूंगा। सरलता प्रदान करने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण मान्यताएं खुली अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक पृष्ठभूमि से प्रेरित हैं, जो विश्व की पूंजीवादी व्यवस्था की परिधि को आकार देने वाली अधिकतर सामाजिक संरचनाओं की भी पृष्ठभूमि है। मैं कुल मांग की समस्याओं से सार निकालते हुए यह मानकर चलता हूं कि वस्तुओं की तुलनात्मक कीमतें बाह्य तौर पर तय होती हैं[15]। परिवहन संबंधी खर्चों, शुल्कों, तथा राज्य की अन्य नीतियों की वजह से बाह्य कीमतों में आए संशोधन इस मॉडल में कोई समस्या पैदा नहीं करते, लेकिन मौजूदा सन्दर्भ में उद्देश्यपूर्ति के लिए बात का ऐसा विस्तार एक अनावश्यक पेचीदगी पैदा करता है।

सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में आर्थिक असमानता के अनुपात का प्रतिनिधित्व तीन तत्त्वों द्वारा किया जा सकता है : उत्पादन की परंपरागत पद्धति में और पूंजीवादी पद्धति में असमानता की स्थिति तथा पद्धतियों के बीच की असमानता की स्थिति[16] हम प्रत्येक पर बारी-बारी विचार करेंगे।

परंपरागत पद्धति से प्राप्त कुल उत्पाद का बंटवारा, जो स्वयं उत्पादकों द्वारा किए गए उपभोग तथा भूस्वामियों को दिए गए किरायों के बीच किया जाता है, किराए के भिन्नात्मक हिस्से से दर्शाया जाता है, जिसके निर्धारण में दोनों वर्गों के बीच संघर्ष तथा द्वंद्व के इतिहास का भी महत्त्व है। पारंपरिक पद्धति में आवश्यक गुजर-बसर से ऊपर उत्पादन की थोड़ी-सी अतिरिक्त बचत आर्थिक प्रतिफल में असमानता की हद के लिए मुकाब्लतन नीची सीमा प्रस्तुत करती है, विशेष तौर पर पूंजीवादी पद्धति से तुलना किए जाने के हालात में[17]। पूंजीवादी पद्धति में पूंजी और श्रम के बीच उत्पाद का बंटवारा मजदूरों और पूंजीवादियों की दाम-तोल करने की तुलनात्मक ताकत पर निर्भर करता है और यह ताकत निर्भर करती है दोनों पद्धतियों में आर्थिक स्थितियों तथा सम्पूर्ण सामाजिक संरचना के राजनैतिक तथा विचारधारात्मक हालात पर। मैं यहां आर्थिक पक्षों पर ध्यान केन्द्रित करूंगा। जब तक पूंजीवादी पद्धति में मजदूरी पारम्परिक पद्धति के सीधे, प्रत्यक्ष उत्पादकों की आय से अधिक होगी, तब तक वेतन-मजदूर तुलनात्मक दृष्टि से कमजोर अवस्था में रहेंगे क्योंकि पारंपरिक पद्धति में सम्भावित वेतन-मजदूरों की एक 'रिजर्व सेना' रहती है- यदि दी जा रही मजदूरी पर काम करने से इनकार किया जाता है तो जरूरत पड़ने पर इस 'सेना' से मजदूरों की भर्ती हो सकती है। इसलिए पूंजीवादी पद्धति में आय-वितरण का माप उत्पाद पर चल रहे इस संघर्ष के नतीजे तथा संपत्ति के केन्द्रीकरण की अवस्था पर निर्भर करेगा।

पूरे समाज का वर्गानुसार आय-वितरण समय के साथ निम्नलिखित में बदलाव के आधार पर बदलेगा- दोनों पद्धतियों में श्रम-वितरण की अवस्था, तुलनात्मक दृष्टि से दोनों पद्धतियों की उत्पादकता की स्थिति, पूंजी तथा श्रम की सौदा करने की ताकत, तथा किराए में हिस्सा। कुछ कारणों से पूंजीवादी पद्धति में असमानता बढ़ने की प्रवृत्ति रहती है। जैसे, पूंजीवादी पद्धति की तकनीकी गतिशीलता तथा उत्पाद को पुनः लाभ के लिए लगाने की उसकी बेहतर क्षमता, और आरक्षित सेना द्वारा वेतन-मजदूरी पर लगाई सीमा- इन कारणों से उत्पन्न असमानता पूंजीवादी पद्धति तथा पारंपरिक पद्धति के बीच भी बढ़ती है। ऐसा असमतल विकास पूंजीवादी विकास की एक विशेषता है, खास तौर पर उसके शुरुआती चरणों में[18]।

अब बात करते हैं इस वितरण प्रक्रिया में प्रत्येक वर्ग के हितों के बारे में। पूंजीवादी पद्धति में कार्यरत मजदूरों के तुरन्त हित में है कि श्रम के अभाव को बढ़ावा मिले, ताकि उनकी सौदा करने की ताकत बढ़े। इसका एक तरीका है श्रम की बचत करने के मकसद से किए जाने वाले नवीकरण का विरोध। इसका एक और तरीका है नौकरी दिए जाने पर नियंत्रण का, ताकि सरमाएदारों द्वारा पूंजीवादी पद्धति में काम कर रहे मजदूरों के स्थान पर पारंपरिक पद्धति से मजदूर न लाए जा सकें। पारंपरिक पद्धति की आरक्षित सेना से प्रतिस्पर्धा पारंपरिक क्षेत्र में उत्पादकता में बढ़ोतरी से भी रुकेगी तथा किराए में भूस्वामियों के हिस्से में कमी से भी। इन दोनों की वजह से किसानों द्वारा किए जाने वाले उपभोग के स्तर बढ़ते हैं और इस प्रकार पूंजी द्वारा श्रम को भर्ती करने के न्यूनतम मूल्य भी बढ़ते हैं। इसी प्रकार पूंजीवादी पद्धति में तीव्र संचय मजदूरों के अभाव को बढ़ावा देगा और उनकी स्थिति को ऊंचा करेगा।

इसके विपरीत सरमाएदार वर्ग मजदूरों को भाड़े पर लेने की रोक का विरोध करेगा ताकि सब प्रकार के सम्भावित श्रमिकों तक उसकी खुली पहुंच हो और इस प्रकार मजदूरी के स्तर को इतना गिराया जा सके कि वह किसानों में प्रचलित उपभोग के स्तर तक आ सके। पूंजी के आर्थिक हितों को किसानों के दरिद्रीकरण से बढ़ावा मिलता है- किराए के हिस्से में बढ़ोतरी के जरिए या फिर पारंपरिक उत्पादन में उत्पादकता की बढ़ोतरी में मंदी की वजह से। संचय की प्रक्रिया पारंपरिक उत्पादन पर अतिक्रमण करेगी और इस प्रकार कृषि के कुछ रूपों तथा उत्पादन के अन्य क्षेत्रों में पूंजीवादी सामाजिक संबंध आ जाएंगे। लेकिन यदि जनसंख्या में वृद्धि तथा श्रम की बचत वाले तकनीकी बदलाव पर्याप्त रूप से तीव्र हैं तो पूंजीवादी पद्धति के लिए आरक्षित श्रम सुनिश्चित रहेगा। ऐसे में इस मकसद से, कि उत्पादन की पूंजीवादी पद्धति में रोजगार के लिए मजदूरों को छोड़ा जाना है, पारंपरिक पद्धति में उत्पादकता को बढ़ाने की (या इस पद्धति को खत्म करने की) कोई जरूरत नहीं रहेगी। इस के अलावा, खुली अर्थव्यवस्था में खाद्य (या अन्य आय से जुड़ी वस्तुओं) का तुलनात्मक पारिस्थितिक मूल्य घरेलू कृषि (या अन्य) उत्पादन की स्थितियों से स्वतंत्र रहकर निर्धारित होता है और इसलिए गैर-पूंजीवादी कृषि की उत्पादकता बढ़ाने में पूंजीशाही वर्ग की कोई दिलचस्पी नहीं रहती[19]। कहा जा सकता है कि ये तथ्य इस समय के विकसित पूंजीवादी देशों में संचय की प्रारम्भिक प्रक्रिया तथा समकालीन पूंजीवादी परिधि के देशों में इस प्रक्रिया के एक बड़े अन्तर को दर्शाते हैं[20]। हम देखेंगे कि संचय की प्रक्रिया की प्रकृति में इस अन्तर का संबंध शिक्षा-व्यवस्था की गतिशीलता में समानांतर अन्तर से भी जुड़ता है।

आमतौर पर भूस्वामियों के वर्ग के हित पूंजीशाही वर्ग के हितों के विपरीत होते हैं। भूस्वामियों को पारंपरिक उत्पादन की उत्पादकता में वृद्धि से लाभ होता है- पूंजीशाही वर्ग के लिए यह बात सही नहीं है। इन दो वर्गों में टकराव और संघर्ष के केन्द्र में अनुसंधान की दिशा और नई प्रौद्योगिकी का विकास तथा अधिक परंपरागत आर्थिक, परिवर्तनीय कारक रहते हैं। पूंजीवादी पद्धति में तीव्र संचय से किसानों को आजीविका के वैकल्पिक साधन मिलते हैं, इससे उनकी सौदेबाजी की ताकत बढ़ती है तथा किराए में हिस्सा घटता है। लेकिन भूस्वामी तथा पूंजीपति, दोनों की दिलचस्पी किराए के हिस्से को ऊंचा रखने में रहती है।

इस विश्लेषण के शिक्षा संबंधी प्रभावों पर चर्चा अभी बाकी है। लेकिन इतना तो स्पष्ट होना ही चाहिए कि प्रत्येक स्तर पर स्कूली शिक्षा के ढांचे में, उसकी विषयवस्तु में तथा उपलब्धता में बदलाव दो सन्दर्भों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं- आर्थिक लाभ के वितरण में तथा प्रत्येक वर्ग की वितरण संबंधी रणनीतियों में। इसके अलावा आर्थिक हितों की जटिल बनावट के चलते (जिस में द्वंद्वात्मकता तथा समरूपता दोनों हैं) वर्ग-गठजोड़ों के बनने या बनने से रुकने में शिक्षा नीति द्वारा केन्द्रीय राजनैतिक तथा सैद्धांतिक भूमिका अदा की जा सकती है- यही बात वर्ग-एकता के विकास या उसमें बाधा के सन्दर्भ में भी है।

2. परस्पर-विरोधी विकास तथा राज-सत्ता

इस विश्लेषण की सरल कार्यविधि से वह प्रक्रिया उजागर हो जाती है जिसके तहत आमदनियों का वितरण होता है। लेकिन इस विधि से दिहाड़ी-मजदूरी की व्यवस्था में मजदूरों के एकीकरण के साथ-साथ होने वाले भरपूर सांस्थानिक बदलावों तथा सामाजिक द्वंद्वों का संकेत भर मिल पाता है। उत्पादन की पूंजीवादी पद्धति के फैलाव और प्रसार से पारंपरिक पद्धति कमजोर पड़ती है और इस प्रकार उन

राजनैतिक तथा सैद्धांतिक ताकतों के कमजोर होने का रुझान बनता है जो पुरानी व्यवस्था को चिरस्थाई रखने में लगी रहीं। इस अवस्था में पूंजीशाही वर्ग को पुनःउत्पादन तथा उत्पादन से संबंधित समस्याओं का सामना करना पड़ता है। पूंजीवादी पद्धति का प्रसार और उसका जीवित बने रहना बढ़ते हुए मजदूर वर्ग की उत्पादकता और उसकी राजनीति पर निर्णायक ढंग से निर्भर करता है। पूंजीवादी विकास की सफलता के लिए आवश्यक है कि श्रम-उत्पादकता के ऊंचे स्तर हासिल हों और आश्वासन रहे कि ऐसे सामाजिक संबंध पुनः बनेंगे जो श्रम के उत्पाद के एक बड़े हिस्से को पूंजीशाही वर्ग द्वारा लाभ के तौर पर हथियाए जाने की इजाजत दें। लेकिन इनमें से कोई भी उद्देश्य आसानी से हासिल नहीं हो पाता और कई परिस्थितियों में वे परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं।

पूंजीवादी लाभ अन्य बातों के अलावा दिहाड़ी-मजदूरी की औसत उत्पादकता पर निर्भर करता है। लेकिन उत्पादन की पारंपरिक पद्धति से जुड़ी जनसंख्या में वह सामाजिक दृष्टिकोण और वे तकनीकी दक्षताएं आमतौर पर कम ही पाए जाते हैं जिनका होना उत्पादक पूंजीवादी श्रमशक्ति के लिए आवश्यक है।[21] मजदूरों के पारंपरिक पद्धति से बाहर जाने की वजह से उन दक्षताओं की मांग बढ़ती है जिन्हें उत्पादन में पैतृक भूमिकाओं का अनुसरण करते हुए आसानी से हासिल करना सम्भव नहीं होता। परंपरागत ढंग के समुदाय में हुई परवरिश फैक्ट्री-जीवन से संबंधित आवश्यकताओं के लिए तैयार नहीं कर पाती क्योंकि एक पूंजीवादी उद्यम बहुत ही अलग किस्म का सामाजिक संगठन होता है, जिसके सामाजिक संबंध परिवार या पूंजीवादी समुदाय से पहले के संबंधों से बिल्कुल भिन्न होते हैं[22]। दिहाड़ी-मजदूर को, चाहे वह फैक्ट्री में हो, बागान में हो या दफ्तर में, समय के प्रति सचेत होने, नए तरह के अनुशासन में रहने, प्रेरणा के नए स्रोतों के बारे में जानने तथा पारिवारिक रिश्तों के दायरे से बाहर की सत्ता के लिए सम्मान की बातें सीखनी पड़ती हैं। उसे बहुत ही निश्चित क्रम में तथा टुकड़ों में किए जाने वाले कार्यों की बारीकी से की जाने वाली निगरानी के साथ मेल बैठाना पड़ता है[23]।

पूंजीवादी लाभ इस बात पर भी निर्भर करते हैं कि मजदूरों पर पूंजीवादियों का कितना नियंत्रण है। लेकिन उत्पादन के पूंजीवादी संबंधों के तीव्र प्रसार एवं विस्तार होने पर मजदूरों में वर्ग-चेतना तथा उग्र राजनीतिक गतिविधि को रोकना कठिन हो जाता है। उत्पादन की ढलती हुई पारंपरिक पद्धति में आरक्षित सेना की मौजूदगी की वजह से पूंजीवादी पद्धति में मजदूरों की स्थिति कमजोर तो होती है, लेकिन उनके जीवन और कार्य से संबंधित हालात इनमें सरमाएदारों के विरुद्ध सामूहिक, एकजुट कार्यवाही करने के सामर्थ्य को बल देते हैं। मजदूरों को अक्सर बड़े शहरी इलाकों में, बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियों में इकट्ठा डाल दिया जाता है। कृषि-उत्पादन की प्रक्रिया में निहित सामाजिक अलगाव की स्थिति, जिसने पारंपरिक पद्धति में निष्क्रियता बनाए रखने में मदद की थी, अब टूट जाती है। भूमि से जुड़े हुए या भूमि के मालिक परिवारों की घटती संख्या के चलते मजदूरों द्वारा आजीविका की तलाश होती है। इसके परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर उनके प्रवास की प्रक्रिया सामने आती है। जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा 'क्षणिक' हो जाता है। जनसंख्या के इन अस्थाई, प्रवासी तत्वों की वजह से अपराजेय दिखने वाली समस्याएं सामने आती हैं- यानी उनके समावेश, एकीकरण तथा नियंत्रण से संबंधित समस्याएं। धन-सम्पत्ति की असमानता प्रकट रूप में सामने आती है, उसे आसानी से स्वीकार नहीं किया जाता और उसे न्यायोचित ठहराना भी सम्भव नहीं होता।

इस प्रकार उत्पादन की पूंजीवादी पद्धति में मजदूरों की बढ़ती संख्या के एकीकरण के परिणामस्वरूप पूंजीशाही वर्ग के लिए एक सम्भावी प्रतिद्वंद्वी पैदा हो जाता है- यानी दिहाड़ी-मजदूरों का बढ़ता हुआ वर्ग। किसानों और भूस्वामियों के उलट यह वर्ग संख्या में बढ़ता है तथा पूंजीवादी पद्धति के फैलाव के साथ ही इसकी ताकत की सम्भावनाएं भी बढ़ती हैं। इनकी मांगों और राजनैतिक जीवन में इनके प्रवेश के फलस्वरूप लाभ कमाने की प्रक्रिया में गड़बड़ तथा वर्ग-संरचना में परिवर्तन का खतरा पैदा हो जाता है। संचय और वर्ग-संरचना की पुनर्रचना में यह परस्पर विरोध उग्र वर्ग-संघर्ष तथा राजनैतिक गतिविधि के अन्य रूपों में देखने को मिला है- मजदूर संगठनों की वृद्धि में, आम हड़तालों, राष्ट्रीय आन्दोलनों, जन प्रतिरोधों, तथा समाजवादी राजनैतिक दलों के उभार के रूप में।

पूंजीवादी व्यवस्था के बने रहने के और पूंजीवादी लाभ के फैलाव के, हित में है कि वर्ग-संघर्ष उत्पादन की व्यक्तिगत इकाइयों में, मजदूरों के छुट-पुट संघर्षों तक सीमित रहे। संचय तथा पुनरुत्पादन के बीच हमेशा रहने वाला विरोध दबा रहना होगा या फिर उसकी दिशा को ऐसी मांगों की ओर मोड़ देना होगा, जिन्हें आसानी से समाज के पूंजीवादी ढांचे के अन्तर्गत ही समेटा जा सके। अंतर्विरोध को कुछ समय के लिए अलग-अलग ढंग से नियंत्रित किया जा सकता है : सामाजिक सुधार के जरिए, राज्य द्वारा बलप्रयोग के माध्यम से नस्लीय, जातीय, कबीलाई, भाषाई, लैंगिक या अन्य ऐसी भिन्नताओं को बढ़ावा देने के जरिए, जिनके आधार पर बांटो और राज करो की रणनीति चलती है; और एक ऐसे सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य के जरिए भी जो सार्वजनिक फूट को बढ़ावा देता तथा पूंजीवादी व्यवस्था के प्रजनन में सहायक हो।

3. भर्ती करने वाले और दरबान के रूप में स्कूली व्यवस्था

पूंजीवादी सामाजिक संरचनाओं में स्कूली तंत्र ने पूंजीवादी फैलाव के स्थायित्व के लिए उपरोक्त सभी रणनीतियों को मूर्त रूप दिया है या फिर उनमें योगदान किया है। इस प्रकार उसने संचय और पुनर्रचना के अंतर्विरोध को नियंत्रित करने के लिए राज्य के सशस्त्र बल प्रयोग के एक महत्त्वपूर्ण पूरक के रूप में काम किया है- कम से कम अस्थाई रूप से तो ऐसा किया ही है। अधिकतर पूंजीवादी देशों में स्कूली व्यवस्था पूंजीवादी क्षेत्र के लिए भर्ती करने वाले का और दरबान का काम करती है। दरबान वाली भूमिका पर मैं कुछ ही देर में बात करूंगा। भर्ती करने वाले के रूप में स्कूली तंत्र एक ऐसी श्रम-शक्ति को बनाने में सहायक होता है, जो पूंजीवादी उद्यम के नए सामाजिक परिवेश में लाभकारी ढंग से काम करने में सक्षम और तैयार रहता है। स्कूली शिक्षा मजदूरों की उत्पादकता को दो सम्बद्ध तरीकों से बढ़ाने में मददगार हो सकती हैः पहला, उन मूल्यों, अपेक्षाओं, धारणाओं, विभिन्न प्रकार की जानकारियों तथा व्यवहार की पद्धतियों को संप्रेषित करके या सुदृढ़ करके, जो कार्य को सही ढंग से करने के लिए तथा श्रम-मण्डी जैसी आधारभूत संस्थाओं की अबाध सक्रियता के लिए जरूरी हैं। दूसरा, कार्यकुशल उत्पादन के लिए आवश्यक तकनीकी तथा वैज्ञानिक दक्षताओं को विकसित करके। हालांकि स्कूल में हासिल किए गए अकादमिक कौशलों में से कम ही ऐसे होते हैं जो पूंजीवादी पद्धति के कार्यस्थल पर सीधे लागू किए जा सकते हों। बुनियादी वैज्ञानिक ज्ञान, संप्रेषण के कौशल तथा गणितीय क्षमताओं का होना कुछ व्यवसायों में कुशलता के लिए अनिवार्य है। इससे भी महत्त्वपूर्ण है कि ये योग्यताएं कार्य करते-करते प्रभावी तरीके से सीधे तौर पर उत्पादक कई दक्षताओं के सीखे जाने में निर्णायक भूमिका निभाती हैं।

उत्पादन की शक्तियों के फैलाव और विस्तार में स्कूली शिक्षा के योगदान को स्कूली शिक्षा के दूसरे मुख्य पक्ष से आसानी से अलग नहीं किया जा सकता- यानी वह भूमिका जिसके तहत स्कूली शिक्षा के माध्यम से पूंजीवादी पद्धति के लिए भर्ती की जाती है : उत्पादन के सामाजिक संबंधों की पुनर्रचना, स्कूली तंत्र के सामाजिक संबंध जब कोई एक निश्चित रूप लेते हैं तो पूंजीवादी पद्धति में नौजवानों के एकीकृत होने की तैयारी में भी मदद मिलती है। विद्यार्थियों और माता-पिता को शिक्षा की प्रक्रिया नियंत्रित करने का मौका नहीं दिया जाता। सफलता को एक बाहरी मापदंड के तहत मापा जाता है, यानी ग्रेड तथा परीक्षाएं, जो काम करने के लिए मुख्य प्रेरणा बन जाते हैं। यह ढांचा ज्ञान या सीखने में किसी भी तरह की अन्तरंग दिलचस्पी को अपने अधीन कर लेता है- यानी अपनी कोशिश से कुछ उत्पन्न किए जाने की प्रक्रिया पर नियंत्रण रहता है। वर्ग तथा नस्ल संबंधी, लैंगिक, कबीलाई, भाषाई तथा अन्य भिन्नताएं स्कूल छोड़ने की भिन्न दरों, स्कूलों तक पहुंच में भिन्नताओं तथा तरक्की की अलग-अलग सम्भावनाओं में प्रदर्शित होते हैं। संक्षेप में, उत्पादन के सामाजिक संबंध स्कूलों में ज्यों के त्यों दोहराए जाते हैं। सांस्थानिक ढांचे (न कि स्वरूपात्मक विषयवस्तु) की केन्द्रीय भूमिका को हम हर्बर्ट गिंटिस तथा मेरी शब्दावली में 'अनुरूपता के सिद्धांत' में सारगर्भित कर सकते हैं। पूंजीशाही वर्ग स्कूली शिक्षा की सामाजिक व्यवस्था को इस प्रकार रचने का प्रयास करेगा कि वह उत्पादन के सामाजिक संबंधों के अनुरूप हो। शिक्षक जिसे 'छिपी हुई पाठ्यचर्या' कहते हैं, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाती है। विद्यार्थियों में संबंध श्रेणीबद्ध और प्रतिस्पर्धात्मक हैं या समतावादी और सहायक, विद्यार्थियों, अध्यापकों तथा बड़े समुदाय के बीच के संबंध लोकतांत्रिक हैं या निरंकुशता पर आधारित-पाठों तथा औपचारिक पाठ्यचर्या के मुकाबले ये सब इस बात के बेहतर सूचक हैं कि वास्तव में बच्चों ने स्कूल में क्या सीखा। यह सही है कि मानव विकास का या, संकीर्ण ढंग से कहें तो, श्रम-शक्ति के बनने का प्रारम्भ या अन्त, स्कूल में नहीं होता। पारिवारिक संरचना तथा बच्चों के पालन-पोषण की प्रथाएं समाजीकरण की प्रारम्भिक प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा हैं। स्कूली शिक्षा के बाद, कार्यस्थल पर उत्पादन के सामाजिक संबंध, व्यक्तित्व के विकास पर लगातार प्रभाव बनाए रहते हैं। कुछ प्रकार के व्यवहार को पुरस्कृत किया जाता है, अन्य को दण्डित। पूंजीवादी श्रम-प्रक्रिया की प्रकृति स्वयं ही रवैयों, मूल्यों तथा लोगों के व्यवहार संबंधी तौर-तरीकों के विस्तार को सीमित कर देती है। लेकिन काम करने वाली फौज को बनाने में स्कूली शिक्षा अवश्य ही केन्द्रीय भूमिका निभाती है- खास तौर पर तीव्र सामाजिक बदलाव के समय में।

स्कूली शिक्षा तथा उत्पादन के सामाजिक संबंधों का एक दूसरे के अनुरूप होने का यह अर्थ नहीं है कि सभी बच्चे एक-सी शिक्षा ग्रहण करते हैं। पूंजीवादी उत्पादन (जो श्रम के श्रेणीबद्ध, सिलसिलेवार बंटवारे में लक्षित होता है) की आवश्यकता है कि भविष्य को ध्यान में रखते हुए एक मुकाब्लतन छोटा तकनीकी तथा प्रबंधकीय कर्मचारी वर्ग हिसाब लगाने, निर्णय लेने तथा शासन करने की योग्यता विकसित करे, जबकि उससे कहीं बड़ा एक समूह निर्देशों की सटीक ढंग से अनुपालना करना 'सीखे', भविष्य की इस श्रमिक सेना का यह स्तरीकरण विभिन्न बच्चों के लिए भिन्न-भिन्न मात्रा में भिन्न-भिन्न प्रकार की स्कूली शिक्षा मुहैया करवा कर आंशिक रूप से मुमकिन किया जाता है। इस प्रकार स्कूली तंत्र पूंजीवादी वर्ग- संरचना को

अपने में शामिल कर लेता है। हालांकि यह बात सीधे तौर पर यहां संबंध नहीं रखती, लेकिन अनुरूपता के सिद्धांत का एक अंतर्राष्ट्रीय पहलू भी है- जहां अंतर्राष्ट्रीय श्रम-बंटवारे का परिणाम एक ऐसी वर्ग-संरचना के तौर पर होता है जिसके ऊपरी स्तर पर विदेशी प्रबंधन तथा तकनीकी कर्मचारी वर्ग छाया रहता है (जो प्रायः न्यूयॉर्क या टोक्यो में स्थित है), वहीं यह प्रत्याशा की जा सकती है कि देशीय महाविद्यालयों के स्नातकों के लिए रोजगार की मांग कम विकसित होगी[24]।

मैंने दलील दी है कि पूंजीपतियों का हित स्कूली शिक्षा की संरचना को पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति के सामाजिक संबंधों के अनुरूप ढालने में रहता है। इसी के अनुरूप, पूंजीशाही वर्ग के हित में यह भी है कि स्कूली तंत्र की मात्रात्मक वृद्धि को उत्पादन की पूंजीवादी पद्धति के विस्तार के अनुसार ही संचालित किया जाए। इस बात पर व्यापक सैद्धांतिक बल दिया जाता है कि शिक्षा को सफलता का पैमाना माना जाए। कुछ हद तक इसी के कारण शिक्षा के तीव्र विस्तार के लिए सार्वजनिक मांग अक्सर पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति की रोजगार संबंधी आवश्यकताओं की उपयुक्त दर को भी पार कर सकती है। यह खास तौर पर तब तो होगा ही जब संचय की प्रक्रिया श्रम की अत्यधिक किफायत करने वाली प्रौद्योगिकी को साकार रूप देती है। फिर भी, सार्वजनिक शिक्षा के लिए दबावों से उस सूरत में तो निपटा ही जा सकता है (और ऐसा पारंपरिक पद्धति में काम करने को नियत नौजवानों के संदर्भ में भी किया जा सकता है), जब शैक्षिक विस्तार के सैद्धांतिक और राजनैतिक फायदे बहुत अधिक दिखाई दे रहे हों या पूंजीशाही वर्ग शिक्षा के विस्तार की दर को नियंत्रित न कर पाए।

पूंजीशाही वर्ग के नजरिए से देखें तो अत्यधिक विस्तार के खतरे स्पष्ट हैं। प्रथम, सभी के लिए शिक्षा पारंपरिक उत्पादन-पद्धति के अन्तर्गत उत्पादकता में बढ़ोतरी तथा प्रौद्योगिकीय विकास के लिए सहायक हो सकती है। इस बात का पूंजीपतियों द्वारा विरोध होगा क्योंकि उनका हित सस्ते श्रम की तैयार आपूर्ति को बनाए रखने में रहता है[25]। दूसरे, शिक्षा के अत्यधिक विस्तार की वित्तीय लागत पूंजीपतियों के लिए कर के बोझ की तरह है; उन की नजर में ऐसा करने से राज्य के राजस्व-स्रोतों को उन परियोजनाओं तथा अनुदानों से मोड़ दिया जाता है जिन से अधिक लाभ मिल सकता है। तीसरा, यदि किसी एक विशेष आयु-समूह की पूरी आबादी को खासे उच्च स्तर की शिक्षा मिल जाए तो सभी द्वारा पूंजीवादी पद्धति में रोजगार की प्रत्याशा रखी जाएगी। नतीजा यह कि शहर की ओर प्रवास, बहुत बड़े पैमाने पर शहरी बेरोजगारी तथा नाकामयाब रहने वालों की आशाओं पर पानी फिरने की वजह से आक्रोश उत्पन्न हो सकता है।

इस सबके परिणामस्वरूप यह दबाव रहेगा कि मजदूरी घटे और पूंजीशाही वर्ग इसका स्वागत करेगा, लेकिन आरक्षित सेना को बनाए रखने के इससे कम कीमती और कम खतरनाक तरीके भी हैं। कुछ भी हो, सार्वभौमिक शिक्षा की मदद से मजदूरों और किसानों में एक साझा चेतना पैदा होने की सम्भावना छोटे दौर में किसी भी तरह के आर्थिक लाभ को बराबर कर देगी, उसके असर को कम कर देगी। इस प्रकार, यदि उसे पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया में योगदान देना है तो स्कूली व्यवस्था को कुछ नौजवानों को वेतन-मजदूरी के लिए तैयार करने के अलावा एक दरबान का काम भी करना होगा। नौकरी की शर्तों के तहत स्कूल से योग्यता-प्रमाण का इस्तेमाल किया जाना इस मकसद को भली-भांति पूरा करता है, क्योंकि इस बहाने प्रकट तौर पर वस्तुपरक दिखने वाले तरीके से कुछ लोगों को बाहर रखने का मौका मिल जाता है- उस सूरत में भी जब स्कूल से प्राप्त योग्यता के प्रमाण द्वारा इंगित 'ज्ञान' और संबंधित नौकरियों का आपस में कोई संबंध नहीं होता।

4. वर्ग-गठजोड़ एवं शैक्षणिक द्वैतवाद

लम्बे दौर में पूंजीवादी व्यवस्था की पुनर्रचना प्रायः इस हक में रहती है कि शिक्षा तथा रोजगार संबंधी नीति का प्रयोग सम्भावित वेतनभोगी मजदूरों के अम्बार को सीमित करने के लिए किया जाए। इस रणनीति के लिए पूंजीपतियों को एक आवश्यक कीमत चुकानी पड़ती है- पूंजीवादी पद्धति में महत्त्वपूर्ण मजदूरी बोनस के रूप में, जो पारंपरिक पद्धति में आय के मुकाबले अधिक हो। मजदूरी पर इस बोनस से छोटे मजदूर वर्ग को पूंजीवादी व्यवस्था के साथ प्रतिबद्धता बनाए रखने का आधार मिल जाता है और यह वर्ग शिक्षा तथा चेतना के मामले में तो अलग खड़ा दिखाई देता ही है, आर्थिक रूप से अधिक साधन-सम्पन्न होने के बल पर भी पारंपरिक पद्धति में काम करने वालों से अलग खड़ा दिखाई देता है[26]। इसी क्रम में वेतनभोगी मजदूर, नौकरियों के लिए प्रतिस्पर्धा कम से कम रहने की आशा में इस बात में बहुत कम दिलचस्पी लेंगे कि उनके और उनके बच्चों के अलावा किसी और की भी स्कूली शिक्षा तक पहुंच बने।

भूस्वामियों तथा परंपरागत संभ्रांत वर्गों को शिक्षा के प्रसार में आर्थिक हित कम ही दिखाई देता है। भूमि ही उनके लिए मूल्यवान सम्पत्ति है और उसे खेती के लिए अक्सर जीवन निर्वाह के स्तर तक ही प्रयोग में लाया जाता है। परंपरागत उत्पादन में तकनीकी विकास बहुत ही सीमित होता है तथा इस पद्धति के सामाजिक संबंध परिवार और समुदाय पर आधारित होते हैं और इसीलिए इस पद्धति

में कार्य करने वालों को उस प्रकार के प्रशिक्षण या समाजीकरण की जरूरत नहीं पड़ती जैसा आमतौर पर स्कूलों में होता है। वास्तव में स्कूल तो प्रायः बच्चों के लिए परंपरागत अर्थव्यवस्था से बचने के साधन का काम करता है। लेकिन, क्योंकि परंपरागत संभ्रांत वर्गों तथा भूस्वामियों के लिए परंपरागत अर्थव्यवस्था को बचाए रखना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, इसलिए उनमें शिक्षा के विस्तार का विरोध करने का रुझान रहता है।

भूस्वामियों तथा परंपरागत सम्भ्रांत वर्गों द्वारा शिक्षा के जन-स्तरीय विस्तार का विरोध किया जाता है और उनके राजनैतिक हित उनके इस विरोध को मजबूती देते हैं। परंपरागत संभ्रांत वर्गों की राजनैतिक स्थिति का तकाजा है कि परंपरागत मूल्यों तथा धार्मिक संस्थाओं से मिलने वाले समर्थन को बनाए रखा जाए। लेकिन, पूंजीवादी पद्धति के अंतर्गत आर्थिक जीवन इनमें से कई मूल्यों तथा संस्थाओं को कमजोर करने की ओर तथा उनके दायरे को सीमित करने की ओर प्रवृत्त रहता है। वास्तव में, ऐतिहासिक सन्दर्भ में देखें तो विकसित पूंजीवादी देशों में प्राथमिक स्कूली शिक्षा के विस्तार को आंशिक रूप से पूंजीवादी समर्थन मिलने का भी कारण यह था, कि उदारवादी राज्य तथा आधुनिक नौकरशाही के नियंत्रण एवं अधिकार के विभिन्न रूपों को आदर भाव से देखे जाने की आदत को विकसित करने में यह स्कूली शिक्षा प्रभावी समझी जाती थी। ऐसा इसलिए भी था कि उदारवादी राज्य तथा आधुनिक नौकरशाही के विभिन्न रूपों को धर्म तथा परंपरागत शासक वर्ग के विकल्प के तौर पर देखा जा रहा था। उन्नीसवीं सदी के मध्य में मार्क्स ने लिखा था, '...फ्रांसीसी कृषक वर्ग की आधुनिक तथा परंपरागत चेतना में प्रभुत्व के लिए संघर्ष था। इस प्रक्रिया ने स्कूल शिक्षकों तथा पादरियों में एक निरन्तर संघर्ष का रूप ले लिया।'[27]।

जहां एक ओर पूंजीपति तथा श्रमिक, दोनों वर्ग, दिहाड़ी-मजदूरों में शिक्षा के प्रसार को बढ़ावा देने में रुचि रखते हैं, वहीं ये दोनों समूह भूस्वामियों तथा परंपरागत संभ्रांत वर्गों की ही तरह सार्वभौमिक शिक्षा का विरोध भी करते हैं। हितों की यह समानता एक ऐसे पूंजीपति-भूस्वामी-श्रमिक गठजोड़ के लिए आधार प्रदान करती है, जो जन-जन में शिक्षा के प्रसार को सीमित करने की कोशिश करता है। इसके विपरीत, पूंजीवादी केन्द्र में भूस्वामी तथा परंपरागत संभ्रांत वर्ग सार्वभौमिक शिक्षा के विरोध में अलग-थलग से पड़ गए और उन्नीसवीं सदी के अंतिम तथा बीसवीं सदी के शुरुआती दौर में सार्वभौमिक शिक्षा ठीक रफ्तार से बढ़ती रही। अब सम्भावना है कि पूंजीवादी परिधि में संचय की प्रकृति तथा उसके परिणामस्वरूप वर्ग-गठजोड़ों की बनावट से शैक्षणिक विस्तार का एक ऐसा ताना-बाना उत्पन्न होगा जो पूंजीवादी केन्द्र के अनुभव से काफी भिन्न होगा। लेकिन गरीब मजदूरों-किसानों के जन-दबाव तथा विचारधारात्मक महत्त्व की बातों के मद्देनजर सभी बच्चों तक कम से कम कुछ स्कूली शिक्षा पहुंचाए जाने की मांग तो उठ सकती है। इस दबाव का नतीजा अक्सर एक दोहरी शिक्षा व्यवस्था के रूप में सामने आता हैः एक ओर तो अधिकतर के लिए एक सीमित, दूसरे दर्जे की शिक्षा, और दूसरी ओर तुलनात्मक दृष्टि से महंगी शिक्षा जो बस इतने लोगों के लिए हो कि पूंजीवादी पद्धति में उत्पादकता को बढ़ावा मिल सके तथा काफी हद तक श्रम की कमी से बचा जा सके। सहायता प्रदान करने वाली अंतर्राष्ट्रीय एजेन्सियों में आजकल 'गैर-औपचारिक' शिक्षा बहुत लोकप्रिय है और इससे सम्भावना बनती है कि दोहरी शिक्षा व्यवस्था का और अधिक संस्थागत रूप विकसित हो, जिसके अंतर्गत अधिकतर के लिए तो हस्तकार्य से संबंधित सस्ते व्यावहारिक प्रशिक्षण को प्रोत्साहित किया जाए तथा कुछ के लिए अधिक परंपरागत, कक्षा-कक्ष में दी जाने वाली शिक्षा हो[28]।

तालिका-1. स्कूलीकरण के विभिन्न स्तरों पर प्रति बच्चा संसाधनों की उपलब्धता : माध्यमिक और उच्च शिक्षा के सीधे सामाजिक मूल्य औसत का प्राथमिक शिक्षा में सीधा सामाजिक मूल्य

देश	**शिक्षा का स्तर**	
	माध्यमिक	**उच्चतर**
प्यूर्टो रिको	1.5	11.6
मैक्सिको	5.0	9.0
वेनेजुला	3.0	12.5
कोलम्बिया	2.7	17.9
चिली	1.5	8.0
ब्राजील	2.9	18.0
इजराइल	2.7	16.8
भारत	5.1	17.6
मलेशिया	1.9	13.0
द. कोरिया	2.4	5.5
नाइजिरिया	7.2	100.00
घाना	6.2	118.7
केन्या	11.8	160.4
उगन्डा	14.5	117.6
औसत	**4.9**	**44.8**

स्रोत : पासकारोपालस (1973) से गणन, पृष्ठ-179

शिक्षा के इस दोहरे ढांचे के बारे में प्रमाणों की कमी नहीं है। एक ओर ग्रामीण तथा दूसरी ओर शहरी स्कूलों या एक ओर प्राथमिक स्कूलों और दूसरी ओर माध्यमिक स्कूलों या विश्वविद्यालयों पर किए जा रहे खर्चों में असमानताएं (तालिका-1) इस बात का प्रमाण हैं। प्राथमिक से ऊपर के शहरी स्कूलों को शिक्षा के बजट में अपने कुल नामांकनों के अनुपात से कहीं अधिक हिस्सा मिलता है।[29]

तालिका-2. प्राथमिक स्कूलीकरण सापेक्ष 'कम निवेश' : कम और मध्यम आय देशों में सामाजिक लाभकारिता का औसत

शिक्षा का स्तर	सामाजिक घरेलू आय (%)*	सामाजिक आय का अनुपात
प्राथमिक	26	9.50
माध्यमिक	17	2.37
उच्चतर	13	2.00

* पासकारोपोलस (1973) से गणना, पृष्ठ-63; सिंगापुर, फिलीपिंस और थाइलैण्ड के साथ तालिका-1 के देशों का नमूना।

तालिका-1 स्कूली शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर प्रति विद्यार्थी-वर्ष लगाए गए संसाधन व माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा पर सीधे सामाजिक लागत तथा प्राथमिक शिक्षा पर सीधे सामाजिक लागत के अनुपात एक प्रमाण और भी है- परंपरागत अर्थशास्त्रीय विश्लेषण के मुताबिक गरीब पूंजीवादी देश स्कूली शिक्षा के अन्य रूपों के मुकाबले प्रारम्भिक शिक्षा में लगातार, लम्बे दौर तक 'कम निवेश' करते हैं। स्कूली शिक्षा के लिए प्रतिफल की सामाजिक दर के अनुमान तालिका में नुमायां स्वरूप को प्रदर्शित करते हैं: प्राथमिक शिक्षा पर प्रतिफल की दर उच्च शिक्षा पर इसी दर के मुकाबले आम तौर पर काफी अधिक रहती है[30]।

तालिका-2 प्राथमिक शिक्षा में तुलनात्मक 'कम निवेश' : गरीब तथा मध्य-आय देशों में स्कूली शिक्षा के विभिन्न स्तरों की औसत सामाजिक लाभकारिता था, आर्थिक वृद्धि को उच्चतम बिन्दु तक ले जाने के लिए शिक्षा में संसाधनों के आवंटन के बारे में हमें इन अनुमानों से शायद बहुत ही कम जानकारी प्राप्त हो : इन अनुमानों के वैचारिक तथा अनुभवपरक आधारों की सीमाओं से हम भली-भांति परिचित हैं[31]। लेकिन, हमें ध्यान रखना होगा कि नीति-निर्माताओं द्वारा प्रतिफल की दर से संबंधित विश्लेषण को प्रकट रूप में एक विश्वसनीयता प्रदान की गई है। इसके चलते, पूंजीवादी देशों में प्राथमिक शिक्षा के लिए आवंटित संसाधनों में कमी लाए जाने का रुझान इस विचार का समर्थन नहीं करता कि स्कूली शिक्षा को विकास या समानता के औजार के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। 1960 और 1973 के बीच के समयकाल में गरीब तथा मध्य-आय वाले पूंजीवादी देशों में उच्च-शिक्षा के नामांकन प्राथमिक शिक्षा में नामांकन के मुकाबले दो गुणा दर से बढ़े[32]। भारत इसका महत्त्वपूर्ण उदाहरण है : बेरोजगारी की गम्भीर समस्या, महाविद्यालयों के स्नातकों में प्रतिफल की निम्न दर तथा प्राथमिक स्कूली शिक्षा में सामाजिक प्रतिफल की अनुमानित उच्च दर (20 प्रतिशत) के बावजूद अन्य स्तरों के मुकाबले प्राथमिक स्कूलों में नामांकन का योजनाबद्ध विस्तार लगातार कम रहा है; स्कूली शिक्षा के अन्य क्षेत्रों के मुकाबले प्राथमिक क्षेत्र में लक्ष्यों की प्राप्ति में कमी अधिक रही है[33]। विकास या समानता को बढ़ावा देने के परिप्रेक्ष्य से देखें तो 'विदेशी सहायता' देने के नाम पर आवंटन की प्राथमिकताओं को भी समझ पाना मुश्किल ही है। विश्व बैंक इसका प्रतिनिधिक उदाहरण है- 1963 और 1974 के बीच उसने प्राथमिक शिक्षा के मुकाबले उच्च शिक्षा के लिए चार गुणा अधिक धनराशी का आवंटन किया[34]। हाल के वर्षों में प्राथमिक शिक्षा की परियोजनाओं में विश्व बैंक की दिलचस्पी लगभग पूरे तौर पर गैर-औपचारिक बुनियादी शिक्षा की श्रेणी में रही है[35]।

तालिका-3 : प्राथमिक शिक्षा में संसाधनों की व्यवस्था : अन्तर्राष्ट्रीय तुलना

		(	)		न्न
( )					
	( )	( )			
( )					
	( )	( )	( )	( )	

नोट :

पीटीपीसीएच	=	आबादी में स्कूल जाने वाले हरेक बच्चे पर प्राथमिक शाला शिक्षक
एलएफआरएजी	=	कृषि में कार्यरत श्रमशक्ति अंश का मापन
एलएफआरएडब्लूई	=	मजदूरी और वेतन पर कार्यरत श्रम शक्ति के अंश का मापन
सीओएम	=	प्रतिरूपी चर वर्ग का वामपंथी देशों में समान वर्ग, अन्यथा शून्य
टीआरएडी	=	1 प्रतिरूपी चर वर्ग का परंपरागत अभिजात का समान, अन्यथा शून्य

आर्थिक ढांचे, वर्ग हितों, तथा शैक्षिक द्वैतवाद के बीच के रिश्ते से संबंधित प्रमाण विभिन्न देशों में प्राथमिक शिक्षा के लिए संसाधनों के आवंटन की मात्रा की तुलना करके भी मिल सकते हैं। मैं इन तथ्य-समूहों तथा आंकड़ों का प्रयोग करते हुए दिखाऊंगा कि पूंजीवादी देशों में उपलब्ध प्राथमिक शिक्षा की मिकदार का संबंध पूंजीवादी पद्धति के विस्तार से तो है ही, दोनों उत्पादन पद्धतियों के वर्चस्वशाली वर्गों के बीच सत्ता-संबंधों से भी है। मैं पूंजीशाही वर्ग द्वारा सर्वजन के लिए शिक्षा पर लगाई बंदिशों का चित्रण करना चाहूंगा। इसके लिए मैं दिखाऊंगा कि अर्थव्यवस्थाओं के ढांचों में प्रासंगिक फर्कों को नियंत्रण में ले आएं तो हम पाएंगे कि पूंजीवादी या परंपरागत संभ्रांत वर्गों के वर्चस्व वाले देशों के मुकाबले साम्यवादी देशों में प्राथमिक स्कूली शिक्षा प्रदान करने पर ध्यान देने का रुझान काफी अधिक है।

बानगी के लिए मैंने 55 गरीब तथा मध्य-आय के गैर-साम्यवादी देशों तथा 6 साम्यवादी देशों को लिया है। 55 में से 13 गैर-साम्यवादी देशों का वर्गीकरण परंपरागत संभ्रांत वर्ग के प्रभाव वाले देशों के रूप में था[36]। कई उदाहरण इधर के हैं न उधर के, वे सीमारेखा पर खड़े दिखते हैं और कोई भी ऐसा उदाहरण नहीं है जिसे आदर्श किस्म का माना जा सके। लेकिन उम्मीद है कि यह वर्गीकरण इन देशों में सत्ता के बंटवारे और प्रभावशाली वर्गों के हितों से संबंधित भीषण फर्कों को अपनी पकड़ में ले पाएगा। सभी गैर-पारंपरिक तथा गैर-साम्यवादी देश पूंजीवादी देशों के तौर पर वर्गीकृत हैं।

मुझे इन सभी 61 देशों के लिए प्राथमिक शिक्षा हेतु आवंटित संसाधनों की मात्रा के बारे में पहले से कुछ कहना होगा। ऐसा करते हुए मैं आर्थिक ढांचों के केवल दो परिवर्तनशील कारकों को प्रयोग में लाऊंगा- ये श्रम-शक्ति के उस अंश का प्रतिनिधित्व करेंगे जो कृषि में तथा मजदूरी एवं आय के रोजगार में कार्यरत हैं। तालिका-3 में समीकरण (1) पूंजीवादी पद्धति के माप-आकार-विस्तार तथा प्राथमिक शिक्षा के लिए आवंटित संसाधनों की मात्रा के बीच प्रबल संबंध को दर्शाता है। राज्य के वर्ग-चरित्र के महत्त्व को चिह्नित करने के लिए मैंने उसी समीकरण को पुनः मूल्यांकित किया है- ऐसा करते हुए परंपरागत तथा साम्यवादी देशों में अन्तर करने के लिए मैं एवजी परिवर्तनशील कारकों को प्रयोग में लाता हूं। तालिका-3 में समीकरण (2), तालिका-3 प्राथमिक शिक्षा के लिए संसाधनों का आवंटन : अंतर्राष्ट्रीय तुलनाएं वर्गसत्ता संबंधी इन परिवर्तनशील कारकों का जोड़ समीकरण की व्याख्यात्मक शक्ति को बहुत बढ़ा देता है और यह सुझाता है कि राज्य में जो वर्ग वर्चस्व की स्थिति में होता है, वह शैक्षणिक संसाधनों के आवंटन को प्रभावित करता है। यह समाज के आर्थिक ढांचे के सीधे प्रभाव के बावजूद, उस से भी ऊपर उठकर, होता है। वर्गसत्ता के परिवर्तनशील कारकों के संकेत आशा के अनुरूप हैं तथा गुणांक या सहकारी-कारण (co-efficients) मात्रा के लिहाज से बड़े और सांख्यिकीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। आर्थिक ढांचे में अन्तर को ध्यान में रखे जाने के बाद भी बानगी में लिए गए साम्यवादी देश सम्पूर्ण नमूने के लिए माध्य संख्या/औसत के मुकाबले 91 प्रतिशत अधिक संसाधन प्राथमिक शिक्षा के लिए समर्पित करते हैं[37]। इसी प्रकार, परंपरागत संभ्रांत वर्ग के प्रभुत्व का संबंध प्राथमिक शिक्षा के लिए कम संसाधनों के आवंटन से जुड़ता है : सम्पूर्ण नमूने में आवंटन के स्वरूप से यह अनुमानित नकारात्मक विचलन सम्पूर्ण नमूने की औसत से (पूर्ण मूल्य में) 21 प्रतिशत तक का है।

राजनैतिक परिवर्तनशील कारकों के अनुमानित गुणांक (estimated co-efficients) परंपरागत संभ्रांत वर्गों के सन्दर्भ में वर्गसत्ता के वास्तविक प्रभाव को कम महत्त्व देते हैं : क्योंकि एक बड़े कृषि क्षेत्र को बनाए रखना तथा आधुनिक, मजदूरी से आय-प्राप्ति के क्षेत्र को सीमित रखना इन संभ्रांत वर्गों की रणनीति का हिस्सा माना जाता है, इनकी कुछ शक्ति या सत्ताधिकार को आर्थिक ढांचे के उन दो परिवर्तनशील कारकों में मापा जाता है, जिन्हें इन अनुमानों में स्थिर माना गया है। इस प्रकार इस से अधिक पर्याप्त विश्लेषण में न तो राजनैतिक सत्ता के परिवर्तनशील कारक और न ही आर्थिक परिवर्तनशील कारक बाहर से उत्पन्न होंगे।

61 देशों के इस नमूने से प्राप्त प्रमाण शिक्षा के लिए संसाधनों के आवंटन को प्रभावित करने वाली ताकतों से संबंधित मेरी व्याख्या से मेल खाते हैं। लेकिन अनुभव-आधारित विश्लेषण में शैक्षणिक संसाधनों के आवंटन पर पड़ने वाले महत्त्वपूर्ण प्रभावों को शामिल नहीं किया गया है। कुछ बातें हैं जिन्होंने शिक्षा व्यवस्था के ऐतिहासिक विकास से ध्यान हटाया है- जैसे, गतिहीन, स्थाई विश्लेषण का अपनाया जाना व व्यापक, प्रतिनिधिक आंकड़ों का प्रयोग और यह मान्यता कि किसी एक समय पर कोई एक वर्ग या समूह ही प्रभावशाली स्थिति में होता है।

एक गतिहीन, स्थाई विश्लेषण में भी वर्ग-सीमाओं को बिल्कुल ठीक-ठीक निर्धारित नहीं किया जा सकता। इस के अलावा वर्ग-संरचना भी निरन्तर बदलती रहती है। ऊपर किए गए विश्लेषण में उत्पादन की दोनों प्रतियोगी पद्धतियां- पूंजीवादी तथा परंपरागत- प्रभावशाली वर्गों के बीच प्रतिस्पर्धा को जन्म देती हैं। सत्ता और दौलत के हाशिये पर खड़े समूह उच्च स्थानों तक पहुंच बनाना चाहते हैं। गरीब, बहिष्कृत समूह अधिक आमदनी और राजनैतिक प्रभाव की चाह रखते हैं। एक विशेष वर्ग के माने गए प्रभुत्व पर आधारित अर्थमितीय विश्लेषण शिक्षा नीति के उनमें से कुछ पक्षों को पहचानने में असफल रहता है, जो वर्गों के अनसुलझे संघर्ष और टकराहट से पैदा होते हैं। इसके अलावा, यह विश्लेषण शिक्षा-नीति के उन तत्त्वों को भी छोड़ देता है, जिनकी मदद से अड़ियल समूहों को अपने में शामिल करने तथा सत्ता-वर्ग के प्रति उनकी स्वीकृति को खरीदने का मंसूबा पूरा किया जाता है। उदाहरण के लिए, प्राथमिक शिक्षा के मुकाबले उच्च शिक्षा पर प्रकट रूप में 'जरूरत से अधिक निवेश', जो कई गरीब देशों की एक विशेषता है, ऐसा नहीं है कि संभ्रांत वर्गों की आमदनी को उच्चतम बिन्दु तक ले जाने की जानी-समझी योजना का नतीजा ही हो। बल्कि सम्भव है कि उन बच्चों के परिवार जिन्हें विश्वविद्यालयी सुविधाओं के विस्तार से लाभ मिल सकता है, संभ्रांत वर्गों के बाहर के सबसे अधिक शक्तिशाली तथा मुखर, शोर करने वाले समूह हों[38]। इस लिहाज से विश्वविद्यालयी विस्तार शायद स्थायित्व बनाए रखने के लिए इन समूहों को दी गई एक छूट ही है। विस्तार के लिए ऐसे ही दबाव स्कूली शिक्षा व्यवस्था के प्रत्येक स्तर पर भी होते हैं हालांकि प्राथमिक शिक्षा से वंचित रखे गए परिवारों का राजनैतिक प्रभाव आमतौर पर न्यूनतम सा-ही होता है।

एक गतिहीन, स्थाई अर्थमितीय विश्लेषण इस ख्याल को पैदा करने में भी योगदान दे सकता है कि प्रभावशाली समूहों की रणनीतियां आवश्यक तौर पर सफल ही होती हैं। लेकिन एक उदाहरण से सिद्ध हो जाएगा कि ऐसा होना जरूरी नहीं है। असम्मिलित, बाहर रखे गए समूहों को रिझाने-खरीदने के लिए शिक्षा व्यवस्था के इस्तेमाल के वे नतीजे भी निकल सकते हैं जिनका कोई इरादा नहीं किया गया था- उस सूरत में, जब स्कूली शिक्षा के एक विशेष स्तर का विस्तार उन मांगों को ध्यान में रखे बिना किया जाए जो शिक्षित मजदूर-वर्ग के लिए नौकरी देने वालों द्वारा रखी जाती हैं। भर्ती के निरन्तर विस्तार के साथ पूंजीवादी पद्धति में दाखिल होना लगातार महंगा पड़ता है : पहली जरूरत साक्षरता की रहती है, फिर प्राथमिक स्कूली शिक्षा से उत्तीर्ण हो कर निकलने की तथा उसके बाद माध्यमिक स्कूल के डिप्लोमा की। योग्यता-प्रमाणों का यह फुलाव कुछ हद तक तो स्कूली व्यवस्था के आंतरिक विरोधाभासों की वजह से ही है। क्योंकि शिक्षा के विस्तार की लोकप्रिय जनस्तरीय मांगों को हमेशा ही नकारा नहीं जा सकता, कई स्कूली व्यवस्थाओं से निकलने वाले स्नातकों की संख्या पूंजीवादी पद्धति में उपलब्ध नौकरियों के मुकाबले अधिक होती है। स्कूली शिक्षा से लैस मजदूरों की यह अत्यधिक आपूर्ति, नौकरियों के लिए आवश्यक योग्यताओं में बढ़ोतरी का रूप लेती है- जिसके चलते प्रत्याशाएं निराशा में बदलती हैं और शिक्षा की अगली सीढ़ी तक पहुंच बन पाने के लिए मांग बढ़ती है, आदि-आदि। अगले स्तर का विस्तार इन स्नातकों को मजदूर-बाजार से हटा लेता है, उनकी असंतुष्टि को कुंद कर देता है; लेकिन, यही समस्या उनके स्नातक होने के बाद इससे ऊपर के स्तर पर फिर से लौट आती है। जब तक शहरी, लिखने-पढ़ने का काम करने वाले कर्मचारी-वर्ग की महत्त्वपूर्ण राजनैतिक ताकत उदारता से लागू की गई वेतन-सूचियों में तथा नौकरी तक पहुंच के लिए आवश्यक योग्यता-प्रमाणों के फुलाव में प्रतिबिम्बित होती है (जबकि इन योग्यता-प्रमाणों का नौकरी की विषयवस्तु तथा मजदूरों की वास्तविक कमी से कोई संबंध न हो), तब तक उच्च शिक्षा के जरूरत से अधिक विस्तार को जनप्रिय मांग द्वारा और अधिक उभारा-उकसाया जाता रहेगा।

5. निष्कर्ष : शैक्षिक नीति की सीमाएं

मेरी दलील है कि स्कूली व्यवस्था पूंजीवादी विकास में निम्न तरीकों से एक आवश्यक भूमिका निभाती है : (क) श्रम के प्रवाह को उत्पादन की पूंजीवादी तथा परंपरागत पद्धतियों के बीच नियन्त्रित कर; (ख) पूंजीवादी पद्धति में उत्पादकता को बढ़ाकर; (ग) एक बड़े, वर्ग-जागरूक सर्वहारा के या कृषक-मजदूर सहयोग के विकास को निष्फल कर; तथा (घ) परंपरागत संभ्रांत वर्गों के विचारधारात्मक और राजनैतिक वर्चस्व को खोखला करके- अधिकतर गरीब देशों की तरह, जहां भी राज्य मुख्यतः पूंजीशाही वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करता है, यही वे उद्देश्य हैं जो शिक्षा नीति पर हावी रहते हैं, न कि समानता के लिए प्रतिबद्धता या प्रति-व्यक्ति उत्पादन की विकास-दर को उच्चतम स्थिति तक पहुंचाने का उद्देश्य। इस प्रकार समतावादी शिक्षा या आर्थिक वृद्धि को बढ़ावा देने वाली शिक्षा का सामना अपनी सीमाओं से होता है- वर्ग-संरचना के पुनर्रचित होने, संचय की प्रक्रिया के तर्क तथा राज्य पर पूंजीवादी वर्चस्व की अनिवार्यताओं के रूप में, एक अधिक उदार और व्यापक स्तर पर आर्थिक प्रतिफल बांटे जाने के रास्ते में मुख्य रुकावट मानव पूंजी का बंटवारा नहीं, सत्ता का बंटवारा है।

वर्ग-संरचना तथा पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था के असमतल विकास

को चुनौती देने के जन आन्दोलन के हिस्से के तौर पर शिक्षा कार्यक्रमों को सामाजिक समानता को बढ़ावा देने या अधिक विवेकशील विकास-प्रक्रिया में योगदान देने के लिए प्रयोग किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में ब्राजील के उत्तर-पूर्व में पाओलो फ्रेरे के राजनीतिकृत साक्षरता प्रशिक्षण तथा 1942-44 की माओ त्से तुंग की भूल-सुधार मुहिम की ओर तुरन्त ध्यान जाता है। लेकिन पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह के अभाव में शिक्षा के इन सम्भावित कार्यों को चर्चा में लाना व्यर्थ अटकलबाजी से भी गई-गुजरी बात है। ऐसा करना विचारधारा के दम पर मिलने वाले उस दिलासे से बढ़कर कुछ नहीं है जो बेहतरी का ढाढ़स तो बंधाता है- लेकिन वहां, जहां कुछ भी सुरक्षित नहीं रखा जा सकता और जो असमानता तथा आर्थिक-वित्तीय मूर्खता की पूंजीवादी जड़ों को छिपाता है- जिसके चलते पूंजीवाद को वक्त खरीदने का मौका मिल जाता है।

टिप्पणियां

1. विश्व बैंक (1974), पृष्ठ सं, 13
2. मेरी जानकारी के मुताबिक गरीब देशों में वृद्धि एवं विकास को उच्चतम स्तर तक पहुंचाने वाले शैक्षणिक संसाधनों के आवंटन-मॉडल प्रदर्शित करते हैं कि वास्तविक तथा अधिकतम वृद्धि की शैक्षणिक योजनाओं के बीच जबरदस्त भिन्नताएं हैं। उदाहरण के लिए, देखें बोल्ज (1969)। विश्व बैंक द्वारा ट्युनिशिया (1974) और पाकिस्तान (1977) का अध्ययन तथा दासगुप्ता का भारत एवं कोलम्बिया का अध्ययन (1974) इशारा करते हैं कि स्कूली शिक्षा असमानता के होने में योगदान देती है।
3. देखें कूम्ज (1968) तथा (1974)।
4. एब्बा लर्नर ने परम्परागत अर्थशास्त्र के इस पक्ष को बहुत ही उपयुक्त ढंग से प्रदर्शित किया हैः 'एक आर्थिक सौदा एक हल हो चुकी राजनैतिक समस्या है। हल हो चुकी राजनैतिक समस्याओं को अपने कार्यक्षेत्र के रूप में चुनकर अर्थशास्त्र ने सामाजिक विज्ञानों की रानी का खिताब हासिल कर लिया है' (1972, पृष्ठ 259)। गैल्ब्रेथ (1973) भी देखें।
5. सैमुअल्सन (1957), पृष्ठ 894।
6. यह आशावादी दृष्टिकोण विश्व बैंक तथा यू.एस.एजेंसी फॉर इन्टरनेश्नल डवेलपमेंट जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के आर्थिक तथा सामाजिक योजनाओं से संबंधित दस्तावेजों में सबसे अधिक प्रचलित है। देखें चेनरी और अन्य (1974)।
7. उनके दृष्टिकोण की सैद्धांतिक बुनियाद से संबंधित विचार बेक्कर (1967) में प्रस्तुत किए गए हैं। दासगुप्ता का काम (1974) इस के सब से पूर्ण रूप में विकसित अनुभवपरक व्यावहारिक उपयोग का प्रतिनिधित्व करता है। समालोचना के लिए देखें बोल्ज और गिंटिस (1975) तथा थरो (1975)।
8. मिलीबैंड (1969), कौल्को (1963), तथा वाइंस्टाइन (1968) इस साहित्य की नुमाइंदगी करते हैं।
9. खासतौर पर स्कूली शिक्षा के लिए, देखिये बोल्ज और गिंटिस (1976), कात्ज (1968), साइमन (1960), बोदेलो और एस्ताब्ले (1973), क्विक (1975), जिम्बालिस्ट (1973), ट्याक (1974), कार्नोय (1974)।
10. राज्य के मार्क्सवादी सिद्धांत के विभिन्न मुख्य केन्द्रीय विचार लेनिन (1932), अल्थूजर (1971), पूलंत्जास (1968) तथा मिलिबैंड (1969) में विकसित किए गए हैं।
11. मार्क्स तथा एंगल्स (1972), पृष्ठ 337।
12. पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की पारिभाषिक विशेषताएं डॉब (1947), अध्याय-1 द्वारा प्रस्तुत की गई हैं।
13. उत्पादन की पूंजीवाद-पूर्व पद्धतियों के लिए देखिए मार्क्स (1963), टेरे (1972), तथा हाइंड्नेस और हर्स्ट (1975)।
14. काफी संभव है कि वेतन मजदूरी की व्यवस्था के विकसित होने से जनन क्षमता में अंतर्जात वृद्धि होती है क्योंकि यह व्यवस्था एक हद तक प्रजनन संबंधी पारिवारिक निर्णय की प्रक्रिया को भूमि तथा अन्य संसाधनों पर स्वामित्व की सीमाओं (और इसलिए, घटती लाभ दरों) से प्रभावी तौर पर काट देती है। देखें लाजोनिक (1974), फोल्ब्र (1977)।
15. अंतर्राष्ट्रीय पक्षों के अधिक विकसित विवेचन पर आधारित वैकल्पिक विश्लेषण के लिए देखें डि जांव्री (1975) का कुशाग्र निबंध। मैं प्रभावी तौर पर यह मानकर चलता हूं कि सभी वस्तुओं या उनके निकट के विकल्पों का कुछ हद तक तो व्यापार होता है।
16. कुजूनत्स (1963) तथा स्वामी (1967)। यदि V_T तथा V_C = क्रमशः परंपरागत, तथा पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति में आय में विभिन्नता के गुणांक, h = परंपरागत पद्धति के मुकाबले पूंजीवादी पद्धति में प्रति प्राप्तकर्ता इकाई की औसत आय, तथा W_T और W_C क्रमशः परंपरागत एवं पूंजीवादी पद्धतियों में काम करने वाले परिवारों के भागांक हों, तो सामाजिक व्यवस्था V के विभिन्नता-गुणांक को प्रदर्शित किया जा सकता है-

$$V=\frac{[W_T V_T^2 + W_C V_C 2h^2 + W_T{}^{W}{}_C (h-1)^2]^{1/2}}{W_T + W_C^{h}}$$

17. यह सही है कि थोड़ी-सी अतिरिक्त बचत से आय के मुकाब्लतन बराबर वितरण का 'खुलासा' नहीं होता। मैं यह कोशिश यहां नहीं कर रहा, लेकिन दोनों को आधारभूत उत्पादन-पद्धति की अभिव्यक्ति के तौर पर समझा जा सकता है। परंपरागत उत्पादन-पद्धति में वास्तविक आय के मुकाब्लतन बराबर वितरण से, गरीब और मध्य-आय वाले देशों के व्यापक, सभी वर्गों के समावेशी अध्ययन में गिनी गुणांक (gini coefficient) तथा मजदूरी पर कार्य करने

वाली श्रमशक्ति के प्रतिशत के बीच पाया जाने वाला सकारात्मक कारण-कार्य संबंध निकलता है। क्रॉमवेल/Cromwell (1976)।

18. पूर्ण चर्चा के लिए देखिए अमीन (1976)। वितरण की प्रक्रिया का यह नजरिया मेरे ख्याल से पूंजीवादी विकास के दौरान आय की असमानता के पहले जाहिरा तौर पर बढ़ने (कुज़नत्स का मशहूर औंधा यू-आकार पैटर्न) तथा फिर घटने की प्रवृत्ति की अच्छी व्याख्या है, जब कि अंततः इस का कम होना इस वजह से होता है कि परंपरागत उत्पादन-पद्धति के तुलनात्मक दृष्टि से घटते माप-आकार के चलते रिजर्व सेना में भी तुलनात्मक कमी आती है।

19. अर्थव्यवस्था का खुला चरित्र (यानी सभी प्रकार की वस्तुओं या उन के विकल्पों का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से उपलब्ध रहना) यहां निर्णायक भूमिका में है। इसके अलावा, यदि परिवार के विभिन्न सदस्य विभिन्न उत्पादन-पद्धतियों में काम करते हैं तथा परिवार प्रासंगिक उत्पादन इकाई है तो यह विश्लेषण एक हद तक अधूरा है। देखें डियर (1976), म्बिलिनी (1976), तथा मीआस (1975)। इस घटनाचक्र के चलते, परंपरागत पद्धति में उत्पादकता में बढ़ोतरी की वजह से कम मजदूरी के लिए दबाव बन सकता है, क्योंकि परिवार की अधिकतर आजीविका परंपरागत पद्धति में सीधे उत्पादन के माध्यम से प्राप्त होती है। इस मामले में पारिवारिक इकाई के माध्यम से दोनों उत्पादन-पद्धतियों का सीधा संबंध मंडियों के जरिये उन के अप्रत्यक्ष संबंध के पूरक का काम करता है, बल्कि उस का स्थान भी ले लेता है और इस प्रकार कीमतों के बाहरी तौर पर निर्धारण की मान्यता की प्रमुखता को कमजोर करता है।

20. इस बात की ओर फोल्ब्रे (1977) के मेक्सिको के अध्ययन में इशारा किया गया है।

21. काफी बड़े स्तर पर स्वीकृत इस प्रमेय/प्रस्ताव के कई अपवाद भी ध्यान में आते हैं। पूंजीवाद-पूर्व अर्थव्यवस्था पर आधारित मूल्य तथा दक्षताएं स्पष्ट तौर पर जापान की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की सफलता के केन्द्र में रहे हैं। देखें स्मिथ (1959), एब्लेन (1958) तथा बेलाह (1957)। इन्डोनेशिया में विकास के तुलनात्मक अध्ययन में गीर्ज भी ऐसी ही दलील देते हैं।

22. इस तथा इससे अगले खंड में दी गई दलीलें इससे भी अधिक विस्तार तथा अनुभवपरक समर्थन के साथ बोल्ज और गिंटिस (1976) में दी गई हैं।

23. देखें टॉम्प्सन (1967), गुट्मन (1973), तथा मूर (1960)।

24. हाइमर (1970)।

25. देखें शुल्ट्ज (1964)।

26. 'श्रमिक उच्च-वर्ग' का मुख्य विचार मार्क्सवादी साहित्य में लेनिन के समय से विकसित किया गया है। देखें अरिघि (1973)।

27. मार्क्स (1963) पृष्ठ 125। ऐसा ही संघर्ष चर्च ऑव इंग्लैण्ड तथा पूंजीवादियों और खंडनकर्ताओं (Dissenters) द्वारा समर्थित शिक्षा कार्यक्रम में भी चला। देखें क्विक (1975)।

28. देखें सिमन्स (1977)।

29. फुज़ूलखर्ची की दरों में शहरी-ग्रामीण भिन्नताओं के प्रमाण के लिए देखें विश्व बैंक (1974)।

30. बोल्ज (1969) भी देखें। बोल्ज (1971) में मैं प्रतिफल की दरों के अनुमानों में सम्भावित पूर्वाग्रहों पर विचार करता हूं तथा अनुमानों की एक वैकल्पिक शृंखला प्रस्तुत करता हूं, जो कुल मिलाकर अपने स्वरूप में सकरोपूलोस (Psacharopoulos) तथा हेड्ले के अनुमानों से मेल खाती है। इस बात में संशय है कि इन अनुमानों के पक्षपाती झुकाव प्राथमिक शिक्षा के सन्दर्भ में प्रतिफल की उच्च दरों के बाकायदा जांच-परिणाम की व्याख्या कर सकते हैं। पूर्वाग्रह की दिशा को पूरे विश्वास के साथ चिह्नित नहीं किया जा सकता, लेकिन कुल मिला कर ये पूर्वाग्रह सुझाते हैं कि उच्च शिक्षा के सन्दर्भ में सामाजिक प्रतिफल की दर का अनुमान जरूरत से अधिक है- उच्च-स्तरीय नौकरशाहों को प्रशासनिक नागरिक सेवाओं के लिए दी गई तनख्वाहों की वजह से तथा गैर प्रतिस्पर्धी, राजनैतिक तौर पर 'आवश्यक', विदेशी कम्पनियों के देशीय प्रबंधन के लिए ऊंची तनख्वाहों की वजह से, दूसरी ओर, ये पूर्वाग्रह सुझाते हैं कि प्राथमिक शिक्षा के सन्दर्भ में प्रतिफल की दर का अनुमान जरूरत से कम है- ऐसे आय-अनुमानों को प्रयोग में लाए जाने की वजह से, जो अतिरिक्त-श्रम वाली अर्थव्यवस्था में अशिक्षित मजदूरों की सामाजिक सीमांत उत्पादकता को जरूरत से अधिक आंकते हैं।

31. समीक्षा के लिए देखें बोल्ज (1969)। इन आंकड़ों की वैकल्पिक व्याख्याएं कार्नोय (1971) तथा भगवती (1973) में दी गई हैं।

32. युनेस्को (1976)।

33. ब्लौग और अन्य (1969)।

34. विश्व बैंक (1974)।

35. विस्व बैंक (1974)।

36. श्रम-शक्ति पर मूलभूत तथ्य-समूह तथा आंकड़े अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (1966) से लिए गए हैं; स्कूली शिक्षा पर, युनेस्को (1966) तथा (1968) से, परंपरागत संभ्रांत वर्गों का वर्गीकरण एडल्मन तथा मोरिस (1967) से थोड़ा-सा संशोधित किया गया है। 'परंपरागत' के रूप में उन देशों को वर्गीकृत किया गया है 'जिन में 1957-62 के समयकाल के अधिकतर समय में परम्परागत तथा भूस्वामी और/या अन्य, परंपरा की ओर प्रवृत्त, राष्ट्रीय उच्च-वर्ग राजनैतिक वर्चस्व में थे।' एडल्मन तथा मोरिस द्वारा प्रयोग में लाए गए मापदंडों की अधिक विस्तृत व्याख्या उन के इस कथन से होती है कि 'परंपरागत उच्च वर्गों में... परंपरागत भूस्वामी संभ्रांत वर्ग तथा नौकरशाह, धार्मिक या सेना के उच्च-वर्ग शामिल हैं, जो पारम्परिक

सैमुअल बोल्ज ◆

1939 में अमेरिका में जन्मे सैमुअल बोल्ज,
सान्ता फे सैना एण्ड मैचाच्युसेट्स
यूनीवर्सिटी में अर्थशास्त्र पढ़ाते हैं।

राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक संगठनों, संस्थाओं और मूल्यों को बचाए रखने का समर्थन करते हैं।' मुझ द्वारा किया गया वर्गीकरण कुछ हद तक अलग है, क्योंकि इस में अधिक जोर संभ्रांत वर्गों के आर्थिक आधार पर दिया गया है, विशेष तौर पर तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो इस के उत्पादन में वेतन मजदूरी के अभाव पर तथा विश्व की अर्थव्यवस्था में इसके एकीकरण के अभाव पर।

37. साम्यवादी परिवर्तनशील कारक का महत्त्व विशेष साम्यवादी देशों की शिक्षा के इतिहासों से भी इंगित होता है। उदाहरण के लिए देखें 1959 के समय से क्यूबाई शिक्षा का मेरा विश्लेषण- बोल्ज (1971)।

38. इस बात से भारत में उच्च शिक्षा के नामांकनों के 'जरूरत से अधिक फैलाव' के परिणामस्वरूप विश्वविद्यालयी स्नातकों में निरन्तर बेरोजगारी का खुलासा हो सकता है। देखें ब्लौग और अन्य (1969)। ◆

भाषान्तर : रमनीक मोहन

कविता

कला कला के लिए

कला कला के लिए
जीवन को खूबसूरत बनाने के लिए
न हो
रोटी रोटी के लिए हो
खाने के लिए न हो

मजदूर मेहनत करने के लिए हो
सिर्फ मेहनत
पूंजीपति हों मेहनत की जमापूंजी के
मालिक बन जाने के लिए
यानी, जो हो जैसा हो वैसा ही रहे
कोई परिवर्तन न हो
मालिक हो
गुलाम हो
गुलाम बनाने के लिए युद्ध हो
युद्ध के लिए फौज हो
फौज के लिए फिर युद्ध हो

फिलहाल कला शुद्ध बनी रहे
और शुद्ध कला के
पावन प्रभामण्डल में
बनें रहें जल्लाद
आदमी को
फांसी पर चढ़ाने के लिए। ◆

❑ गोरख पाण्डेय
प्रस्तुति : प्रभात